www.aisectuniversityjharkhand.ac.in | Follow us on:

AISECT UNIVERSITY™

JHARKHAND, HAZARIBAG AN AISECT GROUP UNIVERSITY

Recognized by : UGC

(M.A. History Hon’s - Sem III)

(History of India 1858 AD to 1975 AD)

Contact us:

8252299990

8404884433

AISECT University, Hazaribag

Matwari Chowk, in front of Gandhi Maidan, Hazaribag (JHARKHAND)-825301

www.aisectuniversityjharkhand.ac.in info@aisectuniversityjharkhand.ac.in

यूरोप में धर्मसुधार
(Reformation in Europe)

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक मध्यकालीन व्यवस्था और संस्थाएँ बिखर चुकी थीं। सामंतवाद और उससे जुड़ी आर्थिक, और बौद्धिक मान्यताएँ टूट रही थीं, परन्तु धर्म एवं चर्च का प्रभाव ज्यों का त्यों कायम था । मध्यमवर्ग और वाणिज्य–व्यापार के उदय, राष्ट्रीय राज्य के उत्कर्ष और तर्क पर आधारित ज्ञान के विस्तार के कारण धर्म और चर्च में सुधारवादी परिवर्तन आवश्यक हो गया था । धार्मिक कुरीतियों से जनसाधारण एवं स्वयं पादरियों में भारी असन्तोष था। धर्मसुधार आन्दोलन की शुरुआत धार्मिक नेताओं से ही शुरू हुई । सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन को दो चरणों में बाँटा जा सकता है – प्रोटेस्टेण्ट धर्मसुधार और रोमन कैथोलिक धर्मसुधार ।

धर्मसुधार के कारण

मध्यकाल के अन्तिम दिनों में रोमन कैथोलिक चर्च के अन्दर ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध असन्तोष बढ़ रहा था। कुछ असन्तुष्ट तत्त्व यह मानने लगे थे कि रोमन कैथोलिक चर्च ईसा के पट्टशिष्यों एवं प्रारम्भिक धर्मगुरूओं के उपदेश, उनकी भावना एवं आचार से दूर हट चुका है। इसलिए चर्च को ईसाई धर्म के ईश्वर–नियुक्त अभिभावक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होने चर्च को इस ढंग से परिभाषित करना आरंभ किया कि चर्च का अर्थ कोई विशिष्ट संस्था नहीं, बल्कि ईसा मसीह में आस्था रखने वाले समग्र लोग हैं । इन सुधारकों ने कहा कि ईसाई सिद्धान्तों का एकमात्र प्रामाणिक स्रोत धर्मग्रन्थ हैं, न कि संगठित चर्च के निर्णय एवं परम्पराएँ। उन्होंने ईसाई धर्म में मनुष्य और ईश्वर के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध पर जोर देना शुरू किया। फलतः पेशेवर पादरी और रोमन कैथोलिक चर्च के संस्कारों का महत्त्व घटने लगा । उन्होने सभी आस्थावनों के पुरोहिताई की बात की। सुधारकों के ये विचार सन्त आगस्तीन, आरम्भिक चर्च तथा धर्मग्रन्थों के विचारों से मेल खाते थे। ये विचार उत्तर–मध्यकालीन रोमन कैथोलिक पुरोहित – तन्त्र के ठीक विपरीत थे। दोनों विचारों के बीच सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता था। संगठित पश्चिमी क्रिसेनडम (ईसा का राज्य) का अन्दरूनी सैद्वान्तिक फूट धर्मसुधार का सबसे प्रधान मौलिक कारण था।

धर्मसुधार के अन्तर्गत व्याप्त बुराइयाँ थीं जो पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं में पैदा हो गयी थीं । पादरियों की अज्ञानता और विलासिता, चर्च के पदों एवं सेवाओं की बिक्री (सिमोनी), सम्बनधियों के बीच लाभकारी चर्च के पदों का बँटवारा (नेपोटिज्म), एक पादरी द्वारा एक से अधिक पद रखे रहना (प्लुरेलिज्म) सभी बढ़ते असंतोष एवं शिकायत के कारण थे । कई पोप जैसे, छठा पोप अलेक्जेंडर (1462 –1503), दसवाँ पोप लियो (1517–1521) नैतिक दृष्टि से पतित थे । बुरे या भले, सब तरह के उपायों से पादरी धन इकट्ठा करने में लगे रहते थे । जैसाकि एक पोप ने लिखा, "रोम में बिना पैसे के कुछ नहीं मिलता ।" पादरी क्षमाप्रदान (इनडलजेन्स) द्वारा लोगों के पाप का प्राश्यचित करने लगा । पैसा देकर

'इनडलजेन्स' प्राप्त करना सुगम हो गया। पापी से पापी व्यक्ति भी चर्च को पैसे देकर अपने पापों से मुक्ति प्राप्त कर सकता था। वास्तव में धर्मात्मा और श्रद्धालु लोगों को ये बातें बुरी लगती थीं । वे यह नहीं समझ पाते थे कि जो पाप करते हैं उन्हें ईश्वर पैसा लेकर कैसे छोड़ देगा। आर्थिक कारणों ने निस्संदेह धर्मसुधार आन्दोलन में उल्लेखनीय भूमिका अदा की । उस समय तक पश्चिमी यूरोप के देशों में राष्ट्रीय राज्य कायम हो चुके थे और राजाओं को सेना एवं प्रशासन का खर्च चलाने के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता थी, परन्तु पादरियों द्वारा वसूल किया कर रोम चला जाता था । पादरी धनी होने के बाबजूद कर देने से मुक्त थे । राजा चाहते थे कि राज्यशासन का खर्च चलाने के लिए चर्च पर टैक्स लगाया जाय । चर्च की सीख थी कि सूद लेना पाप है । वाणिज्य–व्यापार के कारण जब मुद्रा–प्रधान अर्थव्यवस्था कायम हुई तब कर्ज की प्रथा जोरों से चल पड़ी । सूद सम्बन्धी चर्च के सिद्धान्त व्यापार की प्रगति के बड़े बाधक थे । इसलिए व्यापारी एक ऐसा धर्म चाहते थे जो उनके कार्यों का समर्थन करे ।

राष्ट्रीय राज्यों का हित चर्च के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप से मेल नहीं खाता था । राजा चाहते थे कि राष्ट्र के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति और सारी संस्थाओं की श्रद्धा और भक्ति राष्ट्र को मिले। लेकिन, रोम का पोप सभी देश के चर्च–संगठनों का प्रधान था। राजा अब पोप द्वारा पादरियों की नियुक्ति के अधिकार को चुनौती देने लगे । बहुत से मुकदमों का फैसला चर्च की अदालतों में होता था । बहुधा ऐसा होता था कि चर्च के फैसले राजा की कचहरी के फैसले के विपरीत होते थे । फिर राजा और पोप के बीच झगड़ा इसलिए भी था कि पोप का दावा था कि वह प्रत्येक देश के आन्तरिक राष्ट्रीय मामलों में भी दखल दे सकता है । इसलिए चर्च राजा का राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी भी था। इन कारणों से राजा चर्च के प्रभुत्व और उसके प्रधान पोप का विरोधी था । यूरोप में बहुत से ऐसे राजा थे, जो चर्च के सुधार–आन्दोलन के समर्थक थे।

चर्च–शोषित किसानों का असन्तोष भी धर्म–सुधार आन्दोलन के कारण था । किसान चर्च के टैक्स से पिसते जा रहे थे । पादरी सामंत, प्रथा और कम्मियों के शोषण का समर्थन करते थे । इसलिए जाग्रत किसान उनसे बिगड़े हुए थे और कभी–कभी विद्रोह भी कर देते थे । उदाहरण के लिए जर्मनी के किसानों ने मार्टिन लूथर के नाम पर पादरियों एवं जमींदारों के शोषण के विरुद्ध विद्रोह किया था । किसानों का कहना था कि "जैसा ईसा का रूप था वैसा ही हमारा भी––मनुष्य का रूप है, पर हमें जानवर के समान रखा जाता है।"

पुनर्जागरण के कारण चर्च और उसके प्रधान पोप के खिलाफ विद्रोह की भावना और बलवती हो उठी । इरैसमस और अन्य मानवतावादियों ने चर्च और उसके अन्धविश्वास का मजाक उड़ाया और इस प्रकार लोगों के मस्तिष्क में चर्च के महत्त्व को कम किया। चर्च सम्भवतः नवीन विचारधारा का सबसे जबर्दस्त विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि पुराने

विश्वासों और रूढ़ियों को उखाड़कर नये सिद्वान्तों और आदर्शो की स्थापना हो। चर्च नवीन बौद्विक प्रगति के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा था। मुद्रण कला के विकास के कारण धार्मिक मूल – ग्रन्थों की सस्ती प्रतियाँ लोगों को उपलब्ध होने लगीं। इन पुस्तकों को पढ़कर एवं विचारकों को विचार जानकर उन्हें पता चल गया कि ईसाई धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है। वे इस बात का प्रयत्न करने लगे कि धर्म का प्राचीन रूप पुनः प्रतिष्ठित हो।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक चर्च के विरूद्व धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और बौद्विक असंतोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था। विद्रोह धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और बौद्विक असंतोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था। विद्रोह के लिए सिर्फ एक सक्रिय नेता की और विस्फोट के लिए एक घटना की आवश्यकता थी।

धर्मसुधार का आरम्भ और प्रगति

प्रोटेस्टेन्ट धर्मसुधार तीन विशिष्ट परन्तु संबद्व आन्दोलनों – लूथरवाद, कालविनवाद और ऐंग्लिकनवाद से मिलकर संघटित हुई। इन तीन मुख्य धाराओं तथा एनाबैपटिस्ट कहलाने वाले कई और छोटे पंथो से सैकड़ों प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदायों का जन्म हुआ । लूथर का विद्रोह धर्मसुधार की शुरूआत थी।

लूथरवाद – मार्टिन लूथर (1483–1546) जर्मनी के एक साधारण किसान परिवार में पैदा हुआ था। उसके पिता उसे वकील बनाना चाहते थे, लेकिन विश्वविद्यालय में उसने कानून की जगह धर्मशास्त्र की शुरूआत थी।

इसी बीच व बिटेनवर्ग विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। वहाँ उसे और अध्ययन का मौका मिला। लूथर का विश्वास बढता जा रहा था कि केवल आस्था ओर विश्वास से मुक्ति मिल सकती है। उसने अनुभव किया कि पूजा, प्रायश्चित, खानगी प्रार्थना, आध्यात्मिक ध्यान और क्षमा–प्रदान पत्रों की खरीद से पाप से मुक्ति नहीं पाया जा सकता । इसी बीच एक ऐतिहासिक घटना घटी। 1517 ई॰ में क्षमाप्रदान पत्रों (इण्डलजेन्स) की बिक्री करता हुआ पोप का एक प्रतिनिधि टेट जेल बिटेनवर्ग पहुँचा। लूथर ने इस कार्य की निदा की। इसके विरोध में उसने दलील दी कि क्षमापत्र के द्वारा मनुष्य चर्च के लगाए दण्ड से मुकत हो सकता है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् वह ईश्वर के लगाए दण्ड से छुटकारा नहीं पा सकता और न अपने पाप के फल से बच सकता है। उसके विचारों ने तहलका मचा दिया। उसके सर्मथकों की संख्या बढ़ने लगी। उसने कई पम्फलेट लिखकर चर्च की कमजोरियों पर प्रहार किया, पोप के अधिकारों को चुनौती दी, चर्च की सम्पत्ति जब्त करने और चर्च पर नियंत्रण करने का आह्वान राजाओं से किया।

लूथर के विचारों से पोप को घबराहट हुई। पोप ने उसे घर्मच्युत कर दिया। पोप की आज्ञा को लूथर ने सबके सामने जलाकर विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। 1529 ई ॰ में सम्राट् ने उसे वर्म्स में जर्मन डायट के समक्ष उपस्थित होने के लिए बुलायां सम्भव था कि वहाँ जाने पर उसे अन्य चर्च – विरोधियों के समान जीवित जला दिया जाता, किन्तु सैक्सनी के राजा फ्रेडरिक ने उसे जाने नहीं दिया।

इस समय तक सारे जर्मनी में सामाजिक एवं धार्मिक खलबली पैदा हो चुकी थी। हर तरह के असंतुष्ट लोग नेतृत्व के लिए लूथर की ओर देखने लगे। अपने को एनाबेपटिस्ट कहने वाले धार्मिक कट्टरपंथी लूथर के नाम पर अत्यन्त व्यक्तिवादी और उग्रवादी विचारधारा का प्रचार करने लगे। बाद में लूथर को स्पष्ट करना पड़ा कि उसे कैथेलिक चर्च की उन्हीं विशेषताओं का विरोध करना पड़ा जो धर्मग्रन्थों के अनुकूल नहीं है। दक्षिण–पूर्वी और मध्य जर्मनी के किसानों ने लूथर के उपदेशों से प्रेरणा पाकर विद्रोह कर दिया। शुरू में लूथर को इस आन्दोलन से सहानुभूति थी, लेकिन 1529 ई॰ के बाद आन्दोलन के जनवादी और हिंसक चरित्र से वह घबड़ा गया। उसने शासकों से आग्रह किया कि वे इस विद्रोह का दमन कर दें। बड़ी नृशंसता के साथ किसान विद्रोह दबा दिया गया। वह जानता था कि अशांति बढ़ी तो उसके विचारों का प्रसार अवरूद्ध हो जायगा और नेतृत्व उसके हाथ से निकल जायगा। वह जानता था कि शासकों और मध्यमवर्ग के ही बीच उसका विचार पनप सकता है। इसलिए उसने जनविरोधी फैसला किया। अपने देश में लूथर को छोट – छोटे जर्मन–राजाओ से सहायता मिली। बहुत से राजा चर्च से बिगड़े हुए थे और इसलिए वे लूथर का समर्थन करने लगे।

लूथर के विचार बहुत सुगम थे। उसने ईसा और बाइबिल की सत्ता स्वीकार की, लेकिन पोप और चर्च की दिव्यता और निरंकुशता को नकार दिया। चर्च द्वारा निर्धारित कर्मो के स्थान पर उसने आस्था को मुक्ति का साधन बताया। संस्कारों में उसने केवल तीन – नामकरण, प्रायश्चित और प्रसाद (बैप्टिज्म, पेनैंस और यूकेरिस्ट)–को ही माना। चर्च मे चमत्कार , ईसा को समर्पित रोटी और शराब का मांस और खून में परिवर्तित हो जाना आदि विश्वासों को उसने नही माना। उसने बताया कि चर्च का अर्थ रोमन कैथोलिक या कोई अन्य विशिष्ट संगठन नहीं, बल्कि ईसा में विश्वास करनेवाले लोगों का समुदाय है। उसने पोप, कार्डिनल और विशप के पदानुक्रम को समाप्त करने की माँग की और सभी आस्थावानों की पुरोहिताई की घोषणा की। उसने राजाओं को चर्च का प्रधान माना। मठों और पादरियों के बह्यचर्य को समाप्त करने का विचार उसने रखा। उसके विचार लोकप्रिय हुए और राष्ट्रीय स्फूर्ति को बल मिला।

धर्म के प्रश्न को लेकर जर्मनी के राज्य दो दलों में बँट गये – लूथर के समर्थक 'प्रोटस्टैण्ट' कहलाए और उसके विरोधी 'कैथोलिक'। प्रोटेस्टैण्ट सुधारवादी थे और कैथोलिक प्राचीन चर्च के अनुयायी। दोनों में युद्व शुरू हो गया। 1555 ई॰ में दोनों में आग्सबर्ग की संधि के अनुसार यह तय हुआ कि प्रत्येक राजा अपनी प्रजा का धर्म निश्चित कर सकता है,

किन्तु शर्त यह थी कि उनपर वह प्रोटेस्टैण्ट या रोमन कैथोलिक धर्म छोड़कर तीसरा धर्म नही लाद सकता। प्रोटेस्टेण्ट धर्म उत्तरी जर्मन राज्यों, डेनमार्क, स्वीडन राज्यों में तेजी से फैल गया।

1546 ई में लूथर की मृत्यु हो गयी । सुधारवादियों के इतिहास में लूथर का स्थान बहुत महत्वचर्ण है आधुनिक युग का आह्वान करने वालों में उसे गिना जा सकता है। उसने धर्म के मामले में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर जोर दिया । उसने पोप के खिलाफ विभिन्न देशों के राजाओं और मध्यमवर्ग की राष्ट्रीय भावना को उभाड़ा उसने बताया कि राजा चर्च से बढ़कर है । उसने जर्मन भाषा में अपने विचारों का प्रचार कर जर्मन भाषा को लोकप्रिय बनाया । वास्तव में जर्मन, राष्ट्रवाद को जीवन्त और संगठित करने वालों में लूथर अग्रणी है।

इरेसमस – लूथर के द्वारा रिफारमेंशन आरम्भ होने के पहले 1511 ई० में हालैण्ड निवासी इरेसमस नामक विद्वान ने 'द प्रेज ऑफ फॉली' नामक पुस्तक लिखा । यूरोप के धार्मिक विचारों पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। पुस्तक के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'लूथर के क्रोध की अपेक्षा इरेसमस के उपहासों ने पोप की अधिक हानि पहुँचायी ।' उसने लिखा था कि 'प्रसन्न्ता का प्रधान कारण मूर्खता है, मूर्ख संसार पर शासन करती है और विशेषकर चर्च पर। इरेसमस के विचार लूथर के समान उग्र नहीं थे। वह विवेक एवं बुद्धि के द्वारा चर्च में सुधार लाना चाहता था। उसने कभी भी चर्च का खुला विरोध नहीं किया।

ज्विंगली (1484–1531) – "जिस समय जर्मनी में लूथर पैदा, हुआ, उसी समय स्विट्जरलैण्ड में ज्विंगली नामक सुधारक का अविर्भाव हुआ। धर्म के क्षेत्र मे ज्विंगली ने उपवास का विरोध किया और पादरी के ब्रह्मचर्य और संतो की पूजा को गलत बताया। लूथर से भी अधिक बल के साथ उसने बाइबिल की सर्वोच्च सत्ता पर जोर दिया। 1523 ई० में वह कैथोलिक–चर्च से अलग हो गया और 1531 ई० मारा गया।

कालविनवाद

प्रोटेस्टेण्ट धर्म की स्थापना में लूथर के बाद कालविन का ही नाम आता है। अगर धर्मसुधार आन्दोलन शुरू करने का श्रेय लूथर को है तो कालविन पहला सुधारक था, जो अटूट विश्वास के साथ एक ऐसा पवित्र सम्प्रदाय स्थापित करना चाहता था जिसको अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता और ख्याति प्राप्त हो। उसका जन्म 1509 ई में फ्रांस में हुआ। उसका पिता एक वकील और नोयों के बिशप का सचिव था। उसने पेरिस विश्वविद्यालय में धर्म और साहित्य का गहरा अध्ययन किया। धर्म में उसकी रूचि देखते हुए उसके पिता ने उसे वकील बनने की सलाह दी और कालविन कानून के अध्ययन में रत हो गया। लूथर के विचारों को पढ़कर चौबीस साल की उम्र में उसने प्रोटेस्टेण्ट धर्म को अपना लिया । उसने चर्च से सम्बन्ध तोड़ लिया । फ्रांस के रोमन कैथोलिक, चर्च और फ्रांस की सरकार के क्रोध से बचने के लिए वह फ्रांस छोड़कर स्विट्जरलैण्ड चला गया। वहीं उसने 'ईसाई धर्म की स्थापनाएँ'(इन्सटीट्यूटस ऑफ द क्रिश्चियन रिलीजन) नामक पुस्तक की रचना की । यह धार्मिक पुस्तक बाद में प्रोटेस्टेण्टवाद के इतिहास में सबसे प्रभावशाली ग्रन्थ साबित हुआ। फ्रांसीसी भाषा के लिए इस पुस्तक का वही स्थान है जो स्थान जर्मन भाषा में लूथर द्वारा बाइबिल के अनुवादों को है । फ्रांसीसी भाषा की यह पहली पुस्तक मानी जाती ह जिसकी रचना एक सुनिश्चित और सुडौल योजना के अनुसार हुई थी । इसकी शैली विश्वास और तर्क से परिपूर्ण है । अपने तर्कपूर्ण और विद्वतापूर्ण सिद्धांतों के कारण यह पुस्तक तेजी से लोकप्रिय हुई और ऐसा लगने लगा कि शायद सारे चर्च–विरोधी इस पुस्तक के आधार पर संगठित हो सकेंगे । इसी पुस्तक के कारण वह टीकाकारों, में सबसे अधिक बुद्विमान टीकाकार, बाइबिल का सबसे अधिक कुशल भाष्यकार और सबसे समझदार तथा नैन्यायिक आलोचक माना जाता है।

कालविन यह जानता था कि युग के आधार पर कैसे मनुष्य को समझना चाहिए और मनुष्य के आधार पर, कैसे युग को समझा जाना चाहिए । बाइबिल का अर्थ लगाने में उसने लूथर से अधिक आधुनिक मनोवृत्ति और इतिहास के प्रति अपनी ईमानदारी दिखाई । उसका विचार था कि ईसाई धर्म समझने के लिए ईसा के विचार को समझना आवश्यक है । चूँकि ये विचार प्राचीन धर्मग्रंथों में प्रकट किए गए हैं, इसलिए उन्हें जनप्रिय बनाना जरूरी है । उसका कहना था कि बाइबिल का ठीक अर्थ लगाना चाहिए और आचार–विचार का पालन कड़ाई से होना चाहिए । उसके विचार बड़े उग्र थे । उसकी माँग थी कि त्योहार नहीं मनाये जाएँ, आमोद–प्रमोद की मंडलियाँ न बैठें और थियेटरों को उठा दिया जाए । वह चाहता था कि यौन–व्यभिचार के अपराध में मृत्युदंड दिया उसमें उदारता का नितांत अभाव था और वह अपने विचारों किसी से समझौता करने को तैयार नहीं था । वह इतना असहिष्णु था कि बहुत से लोगों को उसने सिर्फ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं थे ।

कालविन के सिद्धांतों का आधार ईश्वर की इच्छा की सर्वोच्चता है । ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है, इसलिए मनुष्य की मुक्ति न कर्म से हो सकती है न आस्था

से । वह तो बस ईश्वर के अनुग्रह हो सकती है । मनुष्य के पैदा होते ही यह तय हो जाता है कि उसका उद्धार होगा या नहीं । इसे ही 'पूर्व नियति का सिद्धांत' (Doctrine of predestination) कहते हैं । वैसे देखने पर इससे घोर भाग्यवादिता बढ़नी चाहिए थी, किंतु कालविनवाद ठीक इसके विपरीत अपने अनुयायियों में एक नवीन उत्साह और दैविक प्रेरणा का संचार किया। विशेषकर व्यापारियों के दिल में एक नया आत्मविश्वास जगा । वे अपने को ईश्वर का प्रिय पात्र समझने लगे । उन्हें यह विश्वास था कि वे जो कुछ भी करते है, वह ईश्वरीय योजना के अनुसार है: इसमें सामंती कोई भी बाधा नहीं डाल सकती । इसलिए जिन– जिन लोगों––स्कॉट, डच, फ्रांसीसी ह्युजनो और अंग्रेज प्युरिटन ने कालविन के धर्म को अपनाया, वे सभी अपने दृढ आत्मविश्वास उच्चम और चरित्र बल के लिए प्रसिद्ध थे । वे प्रायः व्यापारी और शिल्पी थे । अतएव, यह स्पष्ट है कि कालविन के धर्म को व्यापारियों का समर्थन इसलिए मिला कि उसके सिद्धांतों से उनके व्यापार को बड़ा लाभ हुआ। ''19वीं शताब्दी के सर्वहारा के लिए जो मार्क्स ने किया, वही 16वीं शताब्दी के मध्यम – वर्ग के लिए कालविन ने ।''

कालविन तत्कालीन पूँजीवादी विकास का समर्थक था । जिस प्रकार लूथर ने अपने धर्म को जर्मन राजकुमारों और किसानों की सहायता से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की, उसी प्रकार कालविन ने व्यापारियों और मध्यम–वर्ग के लोगों के समर्थन से अपने धर्म को मजबूत किया। कालविन ने बताया कि सूद लेना उचित है, किंतु इसे एक निश्चित सरकारी सीमा से अधिक नहीं बढना चाहिए। और यदि सीमा निश्चित भी हो, तो गरीबों को मुफ्त में कर्ज देना चाहिए। उसने इस बात पर जोर दिया कि पूँजी के लिए सूद लेना उतना ही ठीक है, जितना कि जमीन के लिए मालगुजारी लेना । कारोबार में मुनाफा को वह उचित समझता था। कालविन के इन विचारों के कारण व्यापारी वर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ।

यद्यपि कालविन फ्रॉसीसी था, उसने जिनेवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । 1536 ई० से अपनी मृत्यु के समय 1564 ई० तक वह वहीं रहा । इस काल में उसने नगर का की धार्मिक संस्थाओं का ही नही, बल्कि उसकी शिक्षा एवं स्वास्थ्य व्यवस्था तथा व्यापार का भी संचालन किया । वह शहर का वास्तविक शासक बन गया । वहाँ उसने अपने उग्र विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा की । कालविनवाद का प्रचार स्विट्जरलैंड, डच नीदरलैंड, स्कॉटलैंड और जर्मन पैलेटिनेट में हुआ । इंगलैंड और फ्रांस मे भी कालबिन के अनुयायी थे । संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना में कालविन के अनुयायियों का बड़ा हाथ था। आधुनिक अमेरिका में पाये जानेवाले कांग्रेगेसनेलिस्ट (Congregationalist), प्रेस्बीटेसियन (**Presbytarian**) और बैपटिस्ट (Baptist) कालविन के ही अनुयायी हैं । प्रमुख प्रारंभिक प्रोटेस्टेंट ग्रुपों में कालविनवादी सबसे अधिक उत्साही और सुसमाचारी थे। जहाँ कहीं भी कालविनवाद में का प्रचार हुआ, वहाँ उसने मध्यमवर्ग, जनतंत्र और सार्वजनिक शिक्षा के विकास मे भी योगदान दिया । यद्यपि दालबिन लूथर की तुलना में अधिक कट्टर था, उसके उपदेश और विधि–विधान लूथर से अधिक सरल थे । लूथर ने तीन संस्कारों को माना को

माना और वह चमत्कारों को प्रतीक के रूप में स्वीकार करने को तैयार था। कालविन ने दो संस्कार माने और चमत्कारों को बिल्कुल नकार दिया । दोनों ने आडंबर का विरोध किया, लेकिन उनके सुधार के तरीके सर्वथा भिन्न थे । अपने–अपने तरीके से दोनों ने धार्मिक कुरीतियों को दूर करने में सफलता प्राप्त की।

आंग्ल धर्म

(Anglicanism)

इंगलैंड में प्रोटेस्टेंट चर्च की स्थापना सर्वथा भिन्न परिस्थिति में हुई। वहाँ लूथर, कालविन या नॉक्स जैसा कोई सुधारक नहीं हुआ। धर्मसुधार आंदोलन का नेतृत्व इंगलैंड के राजाओं ने किया। इंगलैंड में धर्म–सुधार आंदोलन की शुरूआत सम्राट हेनरी अष्टम के पुत्र प्राप्ति की इच्छा से शुरू हुई। उसकी पहली पत्नी कैथरिन ऑफ ऐरागॉन 18 वर्ष में सिर्फ एक पुत्री ही पैदा कर सकी । जब उसे विश्वास हो गया कि कैथरिन दूसरा बच्चा नहीं पैदा कर सकती, तो उसने पोप से आग्रह किया कि वह कैथरिन के साथ उसके विवाह को अमान्य घोषित कर दे। पोप हेनरी के लिए यह कर तो सकता था, किंतु उसे डर था कि कैथरिन के त्याग को उसका भतीजा सम्राट् चार्ल्स पंचम कभी पसंद नहीं करेगा। सम्राट चार्ल्स पंचम् से पोप डरता था, क्योकि रोम की रक्षा सम्राट् चार्ल्स पंचम् की सेना ही करती थी और कैथरिन सम्राट् चार्ल्स पंचम् की बुआ थी । जब पोप ने हेनरी अष्टम् के आग्रह को टाल दिया, तब हेनरी ने अपने आज्ञाकारी संसद को एक्ट ऑफ सुपरमेसी (Act of Supermacy) पास करने के लिए तैयार लिया। इस ऐक्ट के अनुसार इंगलैंड के शासक को इंगलैंड के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी घोषित किया गया । अब पोप इंगलिश चर्च का प्रधान नहीं रहा । एक झटके में रोम से संबंध विच्छेद कर लिया गया । बाद में मठों की संपत्ति जब्त कर ली गई । फिर उसने क्रैमर को कैंटरबरी का बिशंप बनाया जिसने कैथरिन के साथ उसके विवाह को गैरकानूनी घोषित कर दिया। अब हेनरी अष्टम् ने एन बोलिन के साथ विवाह कर लिया ।

हेनरी रोम से अलग होकर इंगलैंड का स्वतंत्र कैथोलिक चर्च बनाये रखना चाहता था । उसके समय में आंग्ल चर्च न पूरी तरह कैथोलिक रह सका और न प्रोटेस्टैंट।

हेनरी के उत्तराधिकारी एडवर्ड VI (1547–53) के शासनकाल में आंग्ल चर्च प्रोटेस्टैंट बन गया । क्रैमर ने 'बुक ऑफ कॉमन प्रेयर" नामक पुस्तक प्रकाशित करवायी और प्रसिद्ध बयालिस सिद्धांतों की घोषणा हुई । इनमें प्रोटेस्टैंट और कुछ हद तक कालविनवादी विचारों को स्थापित किया गया । एडवर्ड VI अपने युवाकाल में ही मर गया जिससे प्रोटेस्टैंट सुधार की नीति को एक धक्का लगा।

कैथरिन की पुत्री मेरी शासन की उत्तराधिकारी बनी । वह अपनी माँ की तरह कट्टर कैथोलिक थी । उसने अपने दो पूर्ववर्ती शासकों के कार्यों को पूरी तरह नकार दिया। रोम से फिर संबंध स्थापित हुआ। संसद को अपने द्वारा पास किए गए कानून बदलने पड़े । नए कानूनों के विरोधियों को जान से हाथ धोना पड़ा । क्रैमर को जिंदा जला दिया गया । अपनी कैथोलिक प्रवृत्तियों को पुष्ट करने के लिए मेरी ने उस समय के सबसे कट्टर कैथोलिक समर्थक शासक स्पेन के फिलिप द्वितीय से विवाह कर लिया। इंगलैंड के लोगों ने इस विवाह का भारी विरोध किया । कानूनों के बावजूद प्रोटेस्टैंट विचारधारा फैलती रही। मेरी निस्संतान मरी और शासन हेनरी तथा एन बोलिन की पुत्री एलिजाबेथ के हाथों में आ गया ।

एलिजाबेथ बहुत योग्य शासिका थी । उसे धर्म से उतना ही लगाव था जितना राजनीतिक हितों के लिए आवश्य़ हो । इसीलिए वह धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक हितों के लिए करना चाहती थी। उसके शासनकाल में आंग्ल धर्म का अंतिम स्वरूप निश्चित हुआ । आंग्ल चर्च जिसे एपिस्कोपल चर्च भी कहते हैं, की स्वतंत्रता फिर से स्थापित हुई और क्रैमर की पुस्तक को संशोधित करके फिर से प्रकाशित किया गया। बयालिस सिद्धांतों को थोड़ा संशोधित करके उन्नतालिस सिद्धांतों के नाम से फिर से लागू किया गया । आंग्ल चर्च को वैधानिक सत्ता प्रदान करने के लिए 'सर्वोच्चता और एकरूपता का कानून' (Act of Supermacy and Uniformity) पास किया गया।

एलिजाबेथ ने बीच का रास्ता अपनाया । वह इंगलैंड को उग्र प्रोटेस्टैंट नहीं बनाना चाहती थी। न ही वह कैथोलिक लोगों का अंत करने के पक्ष में थी । राष्ट्रीय चर्च में शामिल न होने पर जुर्माना देना पड़ता था, लेकिन उन्हें कोई शारीरिक दंड नहीं दिया जाता था । प्रोटेस्टैंटवाद को धीरे–धीरे इंगलैंड की जनता ने स्वीकार कर लिया । यद्यपि कुछ उग्र प्रोटेस्टैंट विशुद्धतावादी प्युरिटन और कट्टर कैथोलिक असंतुष्ट ही रहे, लेकिन एलिजाबेथ की योग्यता और दूरदर्शिता की वजह से आंग्ल चर्च स्थायी साबित हुआ। 16वीं शताब्दी के अंत तक वहाँ एक ऐसे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हो गई, जो इतिहासकार

फिशर के अनुसार "प्रशासनिक रूप से इरेस्टीयन, कर्मकांड में रोमन और धर्मशास्त्रीय संदर्भ में था।" आंग्ल चर्च का यह मिश्रित स्वरूप उसके स्थायित्व का आधार बन गया ।

निष्कर्ष–– 16वीं शताब्दी के अंत तक प्रोटेस्टैंटवाद उत्तरी जर्मनी, स्कंडेनेविया, बाल्टिक प्रांतों, अधिकांश स्विट्जरलैंड, डच नीदरलैंड, स्कॉटलैंड और इंगलैंड में विजयी हो चुका था । इसके अतिरिक्त फ्रांस, बोहोमिया, पोलैंड और हंगरी में भी इसके काफी अनुयायी हो गए थे। यद्यपि विभिन्न प्रोटेस्टैंट शाखाओं के बीच काफी मतभेद था, परंतु वे सभी रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी थे। सभी प्रोटेस्टैंट धर्मावलंबियों ने पोप की सर्वोच्चता, रोमन चर्च की दैवी सत्ता, ब्रह्मचर्य, मठों के अधिकार और परगेटरी ट्रांसअवस्टेनशिएसन, संतों के आह्वान और

पुराने स्मृति चिह्नों की पूजा का विरोध किया। इस प्रकार धर्मसुधार आंदोलन ने ईसाई दुनिया को दो परस्परविरोधी खेमों में विभक्त कर दिया।

रोमन कैथोलिक चर्च में सुधार
(The Roman Catholic Reformation)

रोमन कैथोलिक चर्च पश्चिमी इसाई जगत के आधे हिस्से को खो चुका था और बाकी आधे हिस्से को खोने का खतरा महसूस कर रहा था। इस खतरे ने रोमन कैथोलिक चर्च के अंदर सुधार आंदोलन को जगाया । 16वीं शताब्दी के मध्य तक रोमन कैथोलिक सुधार आंदोलन काफी आगे बढ़ चुका था। चर्च में नया उत्साह पैदा किया गया और प्रोटेस्टैंटों के विरुद्ध प्रत्याक्रमण शुरू किया गया । इस रणनीति ने न केवल आधे ईसाई जगत को रोमन कैथोलिकों के लिए सुरक्षित रखा, बल्कि प्रोटेस्टैंटवाद को पीछे की ओर भी धकेला।

सुधार आंदोलन का आरंभ –लूथर और कालविन के विरोध के बहुत पहले ही कुछ निष्ठावान रोमन कैथोलिकों द्वारा सुधार की माँग हुई थी । स्पेन में 16वीं शताब्दी के अंत में कार्डिनल जिम्मेंस (Ximmens) ने पादरियों में दृढ़ अनुशासन लागू करके और विधर्मियों के विरुद्ध संघर्ष करके एक प्रत्याशित प्रोटेस्टैंट विद्रोह को होने से रोक दिया । लेकिन, यूरोप के अन्य देशों में इस तरह के सुधार की कोशिश पहले नहीं की गई । अब जब एक के बाद एक राज्य प्रोटेस्टैंट बनता जा रहा था तब कुछ सशक्त – उपायों की आवश्यकता महसूस की गई । प्रोटेस्टैंटवाद के प्रवाह को रोकने के लिए दो तरह के प्रत्युपाय सुझाये गए । वेनिस के उदारवादी कार्डिनल कोंटारेनी ने समझौता और मेलमिलाप का सुझाव दिया । दूसरे तरह का सुझाव नेपुल्स के कार्डिनल कराफ़ाँ ने दिया। कराफ़ाँ ऐसा मानता था कि प्रोटेस्टेंटवाद से समझौते की आवश्यकता नहीं है बल्कि चर्च के अंदर व्याप्त भ्रष्ट आचरणों को रोका जाना चाहिए । उसने कहा कि प्रोटेस्टैंट विधर्मी हैं और जबतक वे पोप के प्रति अपनी सर्वोच्च भक्ति समर्पित नहीं करते हैं, तबतक उनके साथ कोई समझौता नहीं किया जाएगा । इसी विचारधारा की जीत हुयी और कराफों पॉल चतुर्थ के रूप में पोप बना । पोप पॉल चतुर्थ के समर्थकों के इच्छानुसार उत्तरी इटली के ट्रेंट नामक जगह में चर्च कौंसिल की बैठक बुलायी गयी।

ट्रेंट की कौंसिल (The Council of Trent) –ट्रेंट की सभा कुछ अंतराल के साथ 1545 से 1563 ई० तक कार्यरत रही । इसी सभा में चर्च के सिद्धांतों की परिभाषा और व्याख्या नए सिरे से की गई । ट्रेंट की सभा में दो तरह के निर्णय लिए गए। – सिद्धांतगत और सुधार संबंधी। चर्च के मूल सिद्धांतों मे कोई परिवर्तन नहीं स्वीकार किया गया । स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि बाइबिल की व्याख्या का अधिकार सिर्फ चर्च को है । सातों संस्कार अपरिवर्तनीय माने गए । मुक्ति का आधार चर्च के माध्यम से संपन्न कार्य बताये गये और

चमत्कार में आस्था व्यक्त की गई । पोप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी और सर्वमान्य व्याख्याता स्वीकार किया गया । संक्षेप में सैद्धांतिक दृष्टि से परंपरागत रूप को ही फिर से दोहराया गया।

सुधार के क्षेत्र में चर्च के पदों की बिक्री समाप्त कर दी गई, अधिकारियों को निर्देश दिया गया था कि वे अपने कार्यक्षेत्र में रहकर आदर्श जीवन बिताते हुए सुविधाजीवी होने से बचें। पादरियों की उपयुक्त शिक्षा –दीक्षा का प्रबंध किया गया। धर्म की भाषा लैटिन ही रही, लेकिन लोकभाषाओं का प्रयोग करने की भी आज्ञा मिल गई। क्षमा –पत्रों की बिक्री रोक दी गई और संस्कार संबंधी कार्यों के लिए पादरियों के आर्थिक लाभ पर प्रतिबंध लगा दिया गया । अब एक अधिकारी एक ही कार्य कर सकता था । इन निर्णयों को लागू करने के लिए धार्मिक न्यायालय (इनक्युजिशन) को मान्यता दी गई। ऐसी पुस्तकों की एक सूची बनायी गई जो पूर्णतः या अंशतः चर्च विरोधी थी । कुछ पुस्तकों को पूरी तरह निषिद्ध कर दिया गया और कुछ का अंश निकाल कर पढ़ने योग्य समझा गया ।

इन कार्यो से चर्च में आत्मविश्वास जागा; उसकी पुरानी गति लौट आई; उसका ढीलापन दूर होने लगा । यही कारण है कि ट्रेंट की कौंसिल का चर्च के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सोसायटी ऑफ जेसस––कैथोलिक चर्च को नया जीवन प्रदान करनेवालों में इग्नेशियस लोयला (1491–1556) का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है । स्पेन निवासी लोयला एक बहादुर सैनिक था । युद्ध में आहत लोयला अध्ययन में जुट गया । पेरिस जाकर उसने धर्म का विशद अध्ययन किया और उसने अपना सारा जीवन चर्च को समर्पित कर दिया । चर्च को नए सिरे से संगठित करने के लिए उसने सोसायटी आफ जेसस की स्थापना की । इसके सदस्य जेसुइट कहलाने लगे ।

सोसायटी ऑफ जेसस का पूरा संगठन सैनिक आधार पर था । हर सदस्य कठोर अनुशासन में बंधा हुआ था । वही व्यक्ति इस संस्था का सदस्य बन सकता था जिसने अपने सारे भौतिक नाते–रिश्तों को तोड़ लिया हो । वैसे ही अभ्यर्थियों को इस संस्था में दाखिला मिलता था जो उच्च प्रतिभा, अच्छे स्वास्थ्य और आकर्षक व्यक्तित्ववाले होते थे । दो वर्षों तक उन्हें कठोर प्रशिक्षण दिया जाता था । इस प्रशिक्षण के दौरान जो किसी भी तरह की कमजोरी का परिचय नहीं देते थे, उन्हें विशिष्ट कार्यों के लिए फिर लंबे अरसे तक कठोर शिक्षा दी जाती थी और तब उन्हें पादरी, शिक्षक, डॉक्टर, कूटनीतिक दूत इत्यादि का कार्य सौंपा जाता था । इस संस्था में एक अंतर्निहित आक्रमकता थी क्योंकि लोयला जानता था कि चर्च के जीवन–मरण का प्रश्न है। वह अपने अनुयायियों को केवल पवित्र जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि चर्च की रक्षा और प्रसार के लिए तैयार करता था । दीनता, पवित्रता, आज्ञापालन और

पोप के प्रति समर्थन की शपथ हर सदस्य को लेनी पड़ती थी । जेसस समाज के सदस्यों के आध्यालिक मार्गदर्शन और उठोरण के लिए लोयला ने स्पीरिचुअल एक्सरसाइजेज की रचना की।

शुरू से ही जेसुइट लोगों ने शिक्षा को आधार बनाकर शिक्षक के रूप में जो सद्भावना प्राप्त की, वह आज भी कायम है । वे युवकों के सीधे संपर्क में आते थे और आसानी से उन्हें प्रभावित कर लेते थे अधिकांश रोमन कैथोलिक देशो में जेसुइटों ने शिक्षा पर नियंत्रण स्थापित कर लिया । प्रचार कार्य में भी उनका मुकाबला करना मुश्किल था । शास्त्रों की उनकी तर्कपूर्ण व्याख्या से पादरी लोग भी प्रभावित होते थे । बाद में चलकर तो वे कूटनीतिक सेवाओं में भी कार्य करने लगे । वे जहाँ जाते अपना प्रभाव अवश्य छोड़ते थे ।

उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विदेशों में हुआ । वे बहुत अच्छे मिशनरी थे और दूर–दराज के देशों में कैथोलिक चर्च के नए क्षेत्र बनाने में साबित हुए । सुदूर–पूर्व में फ्रांसिस जेवियर ने हजारों लोगों को जेसुइट विचार–धारा में परिणत किया । जैसुइट लोगों ने चर्च का प्रभाव बढ़ाने के लिए राजनीति, कृति, साहित्य सेवा, आचार–व्यवहार––हर तरीका अपनाया और बहुतेरे ऐसे क्षेत्र बचा लिए जो निश्चित रूप से प्रोटेस्टैण्ट लोगों की चपेट में आ जाते । अमेरिका, इटली, पोलैण्ड जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड हर कहीं उन्होंने कैथोलिक लोगों को आश्वस्त किया, परिवर्तन के लिए उन्मुख लोगों को रोका और परिवर्तित लोगों को फिर से कैथोलिक बनाया ।

यूरोप में धार्मिक युद्ध

प्रोटेस्टैण्टों के विरुद्ध रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा शुरू किए प्रत्याक्रमण में सबसे अधिक सहायक स्पेन का सम्राद फिलिप II था । सम्राट् चार्ल्स पंचम ने अपने विशाल साम्राज्य का अधिकांश हिस्सा अपने पुत्र फिलिप द्वितीय (1556–98) के लिए छोड़ा था। स्पेन के अतिरिक्त उसका अधिकार नीदरलैण्ड, फ्रेंच कोम्टे, दोनों सिसली, सार्डिनिया, बेलियरिक टापू, अफ्रीका के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्र और पश्चिमी गोलार्द्ध पर भी था। सोलहवीं स्पेन दुनिया की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति माना जाता था । वह कट्टर रोमन कैथोलिक था । वह पश्चिमी ईसाई जगत में स्पेन की शक्ति और वैभव द्वारा रोमन कैधोलिक चर्च की सत्ता पुनः स्थापित करना अपने जीवन का उद्देश्य मानता था। नीदरलैण्ड, इंगलैण्ड और फ्रांस में प्रोटेस्टैण्टों के विरुद्ध रोमन कैथोलिकों के प्रत्याक्रमण में फिलिप II ने स्पेन की सारी–शक्ति रोमन कैथोलिकों के पक्ष में लगा दी।

स्पेनी शासन के विरुद्ध नीदरलैण्ड के विद्रोह का सबसे प्रमुख कारण धार्मिक था। नीदरलैण्ड के दक्षिणी (बेलजियन) प्रान्तों में रोमन कैथोलिक चर्च का ही बोलबाला था किन्तु उत्तरी (डच) प्रान्तों में कालविनवाद का जोर था । फिलिप II ने डच प्रोटेस्टैण्टवाद को समाप्त करने के लिए कड़ा कदम उठाया, क्योंकि वह विधर्मिता बर्दास्त नहीं कर सकता था । विधर्मिता के विरुद्ध कानून लागू करने के लिए इनक्यूजिशन लागू किया गया और बारह नए रोमन कैथोलिक बिशप के पदों का सृजन किया गया । 1566 ई० में नीदरलैंड के 400 प्रमुख कुलीनों अपनी माँगों की तालिका लुई फिलिप के सामने प्रस्तुत किया । जब उनकी कोई माँग नहीं मानी गई तब प्रोटेस्टैंटों के गिरोह ने रोमन कैथोलिक चर्च के रूप बिगाड़ना अरंभ किया । इसपर फिलिप ने अल्वा के ड्युक के नेतृत्व में दस हजार स्पेनी सैनिक नीदरलैंड के दमन के लिए भेजा । छह जाल तक आतंक का राज्य कायम रहा है और हजारों डच मारे गए ।

परंतु डचों ने डरने के बदले हथियार उठा लिया । विलियम ऑफ ऑरेंज के नेतृत्व में डचों ने स्पेनी संचार और व्यापार पर आक्रमण करना शुरू किया । 1580 ई० में डचों ने पूर्वी द्वीपसमुह में पुर्तगाली साम्राज्य पर कब्जा कर लिया जो फिलिप द्वितीय के कब्जे में था । उत्तरी प्रोर्टेस्टेंट राज्यों की बढ़ती हुई शक्ति से डर कर दक्षिणी दस रोमन प्रांतो ने स्पेन का संरक्षण स्वीकार किया। किंतु सात कालविनवादी उत्तरी प्रांतो ने युट्रेट के संघ और अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष जारी रखा। जब 1584 ई में विलियम ऑफ ऑरेंज की हत्या कर दी गई तब कई योग्य नेताओं ने उसका स्थान लिया। अंत में फिलिप की मृत्यु के ग्यारह साल बाद 1609 ई॰ में स्पेन ने बारह वर्ष के लिए युद्ध–स्थगन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और 1648 ई० में स्पेन ने डच नीदरलैंड की पूर्ण स्वतंत्रता को मान्यता दे दी । तेरह अमेरीकी उपनिवेशों की स्वतंत्रता की तरह डचों का स्वतंत्रता–संग्राम साहस और शौर्य से भरा था ।

इस प्रकार, नीदरलैंड में फिलिप द्वितीय का घर्मयुद्ध अंशतः सफल रहा । दक्षिणी प्रांतों को वह स्पेन और रोमन कैथोलिक चर्च के लिए सुरक्षित रख सका। लेकिन, डच प्रांत स्पेन और रोमन कैथोलिक चर्च के हाथों से निकल गया ।

धर्मयुद्ध के क्षेत्र में फिलिप द्वितीय का सबसे शानदार प्रयास रोमन कैथोलिक चर्च के अंदर इंगलैंड को लाने का प्रयास था । उसने इंगलैंड की रोम– कैथोलिक रानी मेरी ट्युडर से शादी की । परंतु इस विवाह ने और इंगलिश प्रोटेस्टैंटों की हत्या ने न केवल महारानी को, बल्कि रोमन थोलिक चर्च को भी, इंगलैंड की जनता की नजरों से गिरा दिया । फिर यह शादी रोमन कैथोलिक उत्तराधिकारी पैदा नहीं कर सकी । 1558 ई० में जब दुखी मेरी की मृत्यु हो गई, तो फिलिप ने इंगलैंड में अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए मेरी की

उत्तराधिकारिणी एलिजाबेथ से विवाह करने का प्रयास किया । परंतु एलिजाबेथ प्रोटेस्टैंट थी और देशभक्त थी। इसलिए वह चालाकी से फिलिप द्वितीय के इस शादी के प्रस्ताव को टालती रही । अपनी योजना को असफल होते देख फिलिप ने एलिजाबेथ की हत्या का षड्यंत्र किया। एलिजाबेथ के बाद इंगलैंड की गद्दी की दूसरी दावेदार रोमन कैथोलिक मेरी स्टुअर्ट थी । स्कॉटलैंड की कालविनवादी जनता ने अपनी महारानी मेरी स्टुअर्ट को स्कॉटलैंड छोड़ने के लिए बाध्य किया। वह भागकर एलिजाबेथ की शरण में आयी और काफी दिनों तक नजरबद रही । बाद में एलिजाबेथ को मालूम हुआ कि फिलिप द्वितीय द्वारा उसकी हत्या की साजिश में मेरी स्टुअर्ट भी शामिल थी। अतः, 1587 ई० में एलिजाबेथ ने मैरी स्टुअर्ट को फाँसी की सजा दी । इस बीच एलिजाबेथ डच प्रोटेस्टैंट–विरोधियों को सहायता दे रही थी और अंग्रेज समुद्री लुटेरों को स्पेनी जहाजों लूटने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी ।

जब लुई फिलिप को मेरी स्टुअर्ट की फाँसी का समाचार मिला तो उसने अपने अजेय जहाजी बेड़े की सहायता से इंगलैंड को जीतने का निर्णय लिया। परंतु 1580 ई० में इंगलैंड ने स्पेनी आर्मडा को ध्वस्त कर दिया । स्पेनी आर्मडा की पराजय के फलस्वरूप समुद्र पर इंगलैंड का दबदबा स्थापित हो गया । इंगलैंड से प्रोटेस्टैंटवाद को समाप्त करने का फिलिप द्वितीय का मंसूबा असफल रहा । अब प्रोटेस्डैंटवाद पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन चुका था ।

फ्रांस में धार्मिक युद्ध– फ्रांस और जर्मनी में प्रोटेस्टैंटवाद के विरुद्ध रोमन कैथोलिक प्रत्याक्रमण की परिणति 16वीं और 17वीं शताब्दी के भीषण धार्मिक युद्धों में हुई । स्पेन ने इन युद्धों में हिस्सा तो लिया, लेकिन उसकी भूमिका अपेक्षाकृत छोटी और अनिर्णायक थी। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम (1500–47) और हेनरी द्वितीय (1547–59) के शासनकाल में रोमन कैथोलिक राजाओं के विरोध के बावजूद कालविनवाद की प्रगति धीरे–धीरे किंतु स्थिर रूप से होती रही । 1559 ई० तक ह्यूजनो (Huguenots) कहलानेवाले फ्रांसीसी कालविनवादियों की संख्या पूरी जनसंख्या का दसवां हिस्सा बन चुकी थी । चूँकि अधिकांश ह्यूजनो संपन्न बुर्जुआ और कुलिन वर्ग के थे इसलिए उनका प्रभाव काफी व्यापक हो गया था । ह्यूजनों और रोमन कैथोलिकों के बीच दुश्मनी 1559 से 1589 ई० के बीच खुले युद्ध में बदल गई । इस अवधि में हेनरी द्वितीय के तीन कमजोर पुत्रों ने शासन किया, जिन पर उनकी महत्वाकांक्षिणी माँ कैथरीन द मेडिसी (Catherine de Medicis) का प्रभाव था । यह अवधि धार्मिक और राजनीतिक षड्यंत्रों, आपसी झगड़ों और धर्मयुद्ध के लिए प्रसिद्ध है ।

इस धार्मिक झगड़े में रोमन कैथोलिक दल का नेता शक्तिशाली गाइजू परिवार था और प्रोटेस्टैंटों का नेता शक्तिशाली बूर्बो परिवार था। पहले आठ वर्षों के युद्ध की समाप्ति 1570 ई० के युद्ध–स्थगन समझौते से हुई । परन्तु कैथरीन द मेडिसी ने ह्यूजनों के सफाये का निर्णय लिया । गाइज् परिवार ने इस निर्णय का समर्थन किया । 24 अगस्त, 1572 (सन्त बर्थलोम्यो के दिन) की मध्यरात्रि को रोमन कैथोलिकों ने पेरिस में प्रोटेस्टैंटों का कत्ले–आम

शुरू किया । जल्दी ही यह कत्ले–आम प्रान्तों में फैल गया और कई सप्ताह चलता रहा । हजारों ह्यूजनों मारे गए । फिलिप II इस हत्याकाण्ड पर काफी प्रसन्न हुआ ।

ह्यूजनों के नेता हेननी ऑफ नवारे बच निकला और उसने नए सिरे से प्रोटेस्टैंट सेना को तैयार किया । मध्यम–वर्गीय ह्यूजनों की सम्पत्ति और शक्ति और इस तेज युवा नेता की प्रतिभा ने प्रोटेस्टैंट का पलड़ा भारी कर दिया । बाद में हेनरी तृतीय ने रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट संघर्ष में एक तीसरे दल का निर्माण किया । इस प्रकार "तीन हेनरियों (गाइज के ड्यूक हेनरी, नवारे के हेनरी और फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय) का युद्ध शुरू हुआ । स्पेन के फिलिप द्वितीय ने ग्राइज् के ड्यूक हेनरी को अपना समर्थन प्रदान किया । अब हेनरी तृतीय ने गाइज के ड्यूक हेनरी को अपना सबसे बड़ा विरोधी माना और 1688 ई० में उसकी हत्या करवा दी । अगले साल गाइज् परिवार के एजेंटों ने हेनरी तृतीय की भी हत्या करवा दी । अतः अब फ्रांस की गद्दी का दावेदार प्रोटेस्टैंट हेनरी ऑफ नवारे था और वह हेनरी चतुर्थ के रूप में फ्रांस का राजा बना । किंतु, चार साल बाद उसे प्रोटेस्टैंट धर्म छोड़ कर रोमन कैथोलिक धर्म अपनाना पड़ा, क्योंकि फ्रांस की बहुसंख्यक जनता रोमन कैथोलिक थी । रोमन कैथोलिक बनने पर ही वह पेरिस में प्रवेश कर सका । पाँच साल बाद 1598 ई० में उसने प्रसिद्ध एडिक्ट ऑफ नांत

(Edicts of Nantes) जारी किया जिसके द्वारा प्रोटेस्टैंट अल्पसंख्यकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई और लगभग सौ साल के लिए फ्रांस में धार्मिक संघर्ष को समाप्त किया गया ।

कैथोलिकों और प्रोटेस्टैंटों के बीच सबसे भयंकर धर्मयुद्ध जर्मनी में हुआ । जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, उत्तरी जर्मन प्रांतों ने प्रोटेस्टैंवाद को स्वीकार कर लिया था। प्रोटेस्टैंटवाद के इस विस्तार से पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम बहुत चिंतित था। उसने प्रोटेस्टैंटों को कुचलने की कोशिश की । प्रोटेस्टैंट राज्यों ने फ्रांस के साथ मिलकर स्मॉल कॉड संघ I (League of Schmalkald) की स्थापना की और 1546 ई० से उन्होंने सम्राट चार्सस V के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । नौ साल तक जर्मनी प्रटेस्टैंट और कैथोलिक राज्य खूनी गृहयुद्ध और अव्यवस्था में एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे । इस युद्ध की समाप्ति 1555 ई० में आग्सबर्ग की संधि (Peace of Augsburg) के द्वारा हुई। इस संधि के अनुसार तीन सौ से भी अधिक जर्मन नरेशों को प्रोटेस्टैंटवाद या रोमन कैथोलिकवाद अपनाने की छूट दी गई । जनता को अपने शासक के निर्णय को मानना था । परंतु आग्सबर्ग की संधि जर्मनी में स्थायी शांति नहीं स्थापित कर सकी । इस संधि में कालविनवाद को कोई स्थान नहीं मिला था । परंतु, 1555 ई० के बाद कालविनवादी लूथरवाद और रोमन कैथोलिकवाद की तरह समान अधिकार की माँग करने लगे। उधर प्रोटेस्टैंटों के द्वारा कैथोलिकों की सम्पत्ति जब्त की जा रही थी और रोमन कैथोलिक भी आक्रामक होते जा रहे थे । इस बढ़ते हुए तनाव ने 1618 ई० में तीसवर्षीय युद्ध को जन्म दिया । यह लड़ाई 1618 से 1648 ई० तक चली। इस युद्ध में जर्मनी के कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट राज्यों के बीच भीषण संघर्ष हुआ ।

इस युद्ध में यूरोप के अन्य प्रमुख राज्यों ने भी हिस्सा लिया। युद्ध की भीषणता से पता चलता है कि उसमें लोग धर्म के नाम पर सबकुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। तीस वर्षीय युद्ध जर्मनी के लिए बड़ा अनिष्टकारी सिद्ध हुआ । देश की समृद्धि जाती रही और लोगों में असंतोष फैलने लगा । जनसंख्या घटने लगी और व्यापार की अवनति होने लगी । युद्ध से विद्या–प्रचार को गहरा धक्का लगा।

इगलैंड और अमेरिका में धार्मिक संघर्ष––इंगलैंड में पूरा प्रोटेस्टैंट धर्म स्वीकार नहीं हुआ था। इसलिए वहाँ उग्र प्रोटेस्टैंट––जो प्यूरिटन कहलाते थे––पर बड़े अत्याचार हुए । बाध्य होकर बहुतों को अपना देश त्यागना पड़ा और उन्होंने उत्तरी अमेरिका में जाकर अपना उपनिवेश बसाया जिससे आगे जाकर एक नए राष्ट्र का जन्म हुआ । अमेरीका में भी जो लोग प्यूरिटन धर्म को नहीं मानते थे, उनका दमन होता था ।

इस प्रकार सारे यूरोप में कैथोलिकों और प्रोटेस्टैंटों के बीच झगड़ा चलता रहा । करीब 250 वर्षों के बाद धर्म के क्षेत्र में उदारता की भावना का जन्म हुआ ।

धर्मसुधार आंदोलन के परिणाम

धर्मसुधार आंदोलन के परिणाम––कैथोलिक धर्मसुधार या कांउटर रिफार्मेशन और यूरोप में धार्मिक युद्धों की चर्चा हम कर चुके हैं । कुछ अन्य प्रमुख परिणामों की चर्चा हम यहाँ करेंगे ।

धर्मसुधार और बौद्धिक प्रगति––जिस बौद्धिक आंदोलन ने धर्मसुधार के उदय में सहायता दी थी उसके प्रसार से उस आंदोलन को और बल मिला । अपने नवीन सिद्धांतों को स्थापित करने के लिए प्रोटेस्टैंट इस बात पर जोर देते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल स्वयं पढ़ने और उसका स्वयं अर्थ लगाने का अधिकार है। वे समझते थे कि ऐसी स्वतंत्रता मिलने से लोग उन्हीं के रास्ते पर आ जाएँगे और कैथोलिक धर्म के बाह्याडंबर को भूलने लगेंगे । जहाँ कैथोलिक धर्म पूजा पर अधिक जोर देता था, वहाँ प्रोटेस्टैंट धर्म व्यक्तिगत विचार और विश्वास पर अधिक जोर देता था। प्रोटेस्टैंट धर्म शिक्षा के प्रचार कार्य पर अधिक जोर देता था । इसके प्रवर्तक चाहते थे कि गृहस्थों में धर्म के प्रति जागृति हो और वे धर्म–सिद्धांत संबंधी समस्याओं में अभिरुचि दिखायें। फलस्वरूप सभी प्रोटेस्टैंट देशों में बौद्धिक तथा अनुशीलन संबंधी वातावरण पैदा हुआ । धार्मिक संप्रदाय की संख्या बढ़ने लगी । दर्शन और विज्ञान पर रचनाएँ होने लगीं और पुस्तकों का व्यापार बढ़ने लगा।

धर्मसुधारकों को इस बात की बड़ी चिंता थी कि उनके उपदेश जनता के पास कैसे पहुँचें। अभी तक धार्मिक पुस्तकें प्रधानतः लैटिन भाषा में थीं, जबकि सुधारकों ने अपनी रचनाओं और उपदेशों के लिए लोकभाषा को अपना माध्यम बनाया। जनसाधारण तक धार्मिक

उपदेश फैलाने के विचार से अंग्रेजी और जर्मन आदि लोकभाषाओं में बाइबिल का अनुवाद हुआ और इससे देशी भाषा सबल और समृद्धशाली हुई ।

धर्मसुधार और राष्ट्रीय राजा की शक्ति में वृद्धि –– धर्मसुधार के कारण राष्ट्रीय राजा की शक्ति और प्रतिष्ठा में और विकास हुआ । बिना राष्ट्रीय राजाओं की सहायता के प्रोटेस्टैंट आंदोलन का सफल होना संभव नहीं था । रोमन कैथोलिक चर्च अंतर्राष्ट्रीय संस्था थी और राजाओं की सर्वोच्च सत्ता को नहीं मानती थी, किंतु प्रोटेस्टैंट आंदोलन ने एक ओर चर्च के अधिकारों का विरोध किया और दूसरी ओर राज्य के प्रति अपनी आज्ञाकारिता और कर्त्तव्य की घोषणा की । उस समय पतनोन्मुख सामंत वर्ग की अराजक प्रवृतियों को दबाने और नवोदित मध्यम वर्ग को सहायता पहुँचाने के लिए समाज में एक त्राता की आवश्यकता थी । धर्मसुधार ने राजा को भी इस त्राता के रूप में दीक्षित किया और कहा कि राजा नया मसीहा है और वही समाज का त्राण कर सकता है। दरअसल धर्मसुधार राज्य की अंतिम और सबसे बड़ी विजय थी । इसके कारण राजा ने न केवल चर्च पर ही अपना अधिकार जमाया, बल्कि अपने राष्ट्र की सीमाओं के भीतर अपनी सत्ता को अक्षुण्ण और निर्द्वंद बनाया । उदाहरण के लिए इंगलैंड की सीमा के भीतर अब किसी विदेशी पादरी अथवा चर्च का कुछ नहीं चल सकता था । वहाँ का राजा अपने राष्ट्रीय चर्च का प्रधान था और रोम के पोप को उसके मामलों में दखल देने का कोई अधिकार नहीं था । हर प्रोटेस्टैंट राज्य में राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई और इससे राजा की शक्ति बहुत बढ़ी । कैथोलिक राज्य भी धर्मसुधार के इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे । फ्रांस कैथोलिक देश था, परंतु पुराने अर्थ में नहीं । वहाँ का चर्च राष्ट्रीय बन गया, राजा की शक्ति अधिक बढ गई और संघर्ष के कारण राष्ट्रीय भावना अधिक जागृत हुई । कैथोलिक पक्ष का समर्थक स्पेन भी अब पोप की सत्ता पर पहले की अपेक्षा कम निर्भर रहने लगा ।

Q. ब्रिटिश सरकार की प्रशासनिक एवं केंद्रीय व्यवस्था तथा नीतियाँ किस प्रकार थी ?

उत्तरः– ब्रिटिश सरकार की प्रशासिनिक एवं केंद्रीय व्यवस्था निम्न थी देखा जाए तो भारत में 1772 से भारत के अन्दर प्रशासनिक व्यवस्था के विकास पर साम्राज्य के स्वरूप का सीधा प्रभाव पड़ा। 1813 ई० तक का समय ब्रिटेन में वणिक पूँजीवाद का समय था इस काल में कम्पनी की रूचि मूलतः भारत से धन कमाने और प्राप्त करने में थी व्यापार के बाद धन पाने का दूसरा प्रमुख स्त्रोत भू–राजस्व के प्रशासन की तरफ विशेष ध्यान दिया। 1813 ई के बाद का समय ब्रिटेन में औद्योगिक पूँजीवाद का समय था इस काल में भारत का शोषण कच्चे माल के स्त्रोत एवं निर्मित माल के बाजार उद्योग और इसलिए ब्रिटिश शासन का गाँावों तक पहुँचना जरूरी हो गया। अतः इस काल में प्रशासिनक व्यवस्था का अधिक गहन व विस्तृत विकास हुआ।

जैसे कि प्रशासनिक व्यवस्था के तहत बहुत सारे स्वरूप देखने को मिलते है।

1. भू– राजस्व के प्रशासन का विकास
2. स्थायी बन्दोबस्त
3. रैयतवारी व्यवस्था
4. महालवारी व्यवस्था
5. राजस्व प्रशासन

1. भू– राजस्व के प्रशासन का विकास –

भू–राजस्व के प्रशासन के क्षेत्र में कम्पनी को प्रारांभिक प्रयोग करने का अवसर प्लासी के युद्व के बाद चौबीस परगना के इलाके में मिला। यह ईलाका कम्पनी को जमींदारी में मिल गया था। यहाँ पुराने जमींदारो को हटाकर पहले तो कम्पनी ने स्वयं लगान वसूल किया बाद में लगान वसूली का काम ठेके पर उठा दिया गया। इस कार्य को अमीलों की सहायता से करते थे। 1769 ई० में आमिलो को हटाकर उनके स्थान पर सुपरवाइजर नियुक्त किये गए। 1770 ई० में भू–राजस्व की कुशल व्यवस्था के लिए मुर्शिदाबाद तथा पटना में वित्त नियन्त्रण परिषदों को स्थापित किया गया। 1772 ई० में बंगाल में द्वेद्यशासन का अंत करने के साथ ही वारेन होस्टिगज ने उसका भू – राजस्व व्यवस्था को भी समाप्त कर दिया। मुर्शिदाबाद और पटना के नायब दीवान के पद समाप्त कर दिए गए। भू–राजस्व को बेहतर व्यवस्था के लिए मई 1772 ई० एक सर्किट कमेटी की की गठन किया गया। इस कमेटी मे बंगाल का गवर्नर तथा उसकी परिषद के चार सदस्य शामिल थे कमेटी के गठन के बाद ही वित्त नियन्त्रक कमेटियों को भी समाप्त कर दिया। वारेन हेस्टिंगज का समय लगान प्रशासन के क्षेत्र में प्रयोगों का समय रहा। उसके द्वारा स्थापित की गई नई व्यवस्था में लगान वसूली का ठेका पाँच वर्ष के लिए दे दिया गया।

2. वारेन हेस्टिगंज के उत्तराधिकारी लॉर्ड कार्नवालिस को भू–राजस्व की व्यवस्था को सही करने का विशेष दायित्व सौंपा जाए कार्नवालिस ने समस्या पर विचार करने के लिए एक कमेटी का गठन किया कमेटी ने मुख्य रूप से तीन प्रश्नो पर विचार किया ये प्रश्न थे –

1 भूमि का स्वामी किससे माना जाए
2 लगान कितना हो, तथा
3 लगान का निर्धारण कितने समय के लिए किया जाए।

इस प्रकार 1793 के स्थायी बन्दोबस्त का जन्म हुआ। 1793 ई में लॉर्ड कर्नावालिस द्वारा लागू की गई। तथा जमींदार को भू – स्वामी मानकर उसके साथ बन्दोबस्त भू–भाटक लगान का 89 प्रतिशत सरकार का 11 प्रतिशत जमींदार का। बंगाल, उड़ीसा, असम, बनारस तथा मद्रास के कुछ क्षेत्रों मे लागू किया गया।

3. रैयतवारी व्यवस्था – बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त को मद्रास प्रेसीडेंसी में लागू नहीं किया गया, वहाँ पर 1792 में बारामहल क्षेत्र में 'कर्नल रीड' के द्वारा रैयतवारी व्यवस्था का प्रयोग किया गया। इस व्यवस्था में जमींदार को नहीं अपितु वास्तविक किसान को भू – स्वामी मानकर उसके लगान का बन्दोबस्त किया गया , बन्दोबस्त स्थायी न होकर उसे 10 वर्ष की अवधि के लिए था जो यह व्यवस्था मुनरों द्वारा स्थापित किया गया। 1824–28 में प्रिंगल के द्वारा किया गया व्यवस्था को अन्तिम रूप 1847 में विनगेट की सर्वेक्षण रिपोर्ट के आधार पर दिया गया। 1855 तक यह व्यवस्था एक प्रकार से प्रयोग के रूप में चलती रही उस वर्ष जमीन का विस्तृत सर्वेक्षण कर तथा उपज के एक तिहाई को लगान के आधार बनाकर इसे व्यवस्थित रूप दिया गया। ब्रिटिश भारत की कृषि भूमि का आधे से अधिक भाग रैयतवाडी व्यवस्था के अन्तर्गत था।

4. महालवारी व्यवस्था – भू – राजस्व की इस व्यवस्था का विकास मुख्य रूप से उतरी भारत तथा मध्य भारत के क्षेत्रों में किया गया, आरम्भ में स्नतान्तरित अवध के नवाब से प्राप्त प्रदेश में , तथा विजित सिनधिया से जीते गये प्रदेश मे स्थायी बन्दोबस्त को लागू करने का विचार था, किन्तुं इन क्षेत्रों की भू – व्यवस्था करने के लिए नियुक्त बोर्ड ऑफ कमिशनर्स ने उस व्यवस्था को अत्यव हानि तथा आलाभप्रद माना।

19 वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश भारत की सरकार का खर्च बढ गया था तथा ब्रिटेन की औद्यौगिक के लिए पूँजी की माँग भी बढ़ रही थी इन माँगो को पूरा करने के लिए भू–लगान के रूप में अधिक से अधिक धन वसूल करना जरूरी था महालवारी व्यवस्था का 1819 – 22 के मध्य विकास किया गया।

Q. ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नितियाँ :–

भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था केवल और केवल भारतीयों के सरंक्षण में फलीभूत हुई। उससे प्राप्त फल पर केवल भारतीयों का अधिकार था वही उसका रसा स्वादन करते थे। इसके विपरीत ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासनकाल में देश की आर्थिक सता और हितों का केंद्र देश के बाहर हो गया। नया शासक वर्ग देश के आर्थिक विकास और जनता के आर्थिक कल्याण की ओर ध्यान देना आवश्यक नही समझता था। उसकी एकमात्र चिन्ता यह थी कि कैसे भारत से अधिक से अधिक धन को अर्जित कर इंग्लैण्ड ले जाया जाए उसकी आर्थिक नीतियाँ का निर्माण इसी उदेश्य को प्राप्त करने के लिए हुआ।

भारत के गहन व तीव्र आर्थिक शोषण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश शासक वर्ग ने मुगलकालीन भारतीय अर्थ व्यवस्था के ढाँचे को नष्ट कर दिया। इस ढाँचे की मुख्य दो विशेषताएँ थी, कृषि एवं हस्तशिल्प में समुचित संतुलन तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अस्तित्व ब्रिटिश नीतियों ने इन दोनो ही विशेषताओं को समाप्त कर ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को छिन्न – भिन्न कर दिया, लेकिन आधुनिक पुँजीवादी व्यवस्था को पूर्ण रूप से देश में स्थापित नहीं किया। कृषि का वाणिज्यीकरण तथा हस्तशिल्प के विनाश के लिए उल्लेखनीय शासन के दूसरे चरण की मुख्य विशेषता हो। पूँजीवादी तथा आधुनिक उद्योगों का उदय।

18वी सदी के आरंम्भ में मुगलों द्वारा स्थापित कर व्यवस्था छिन्न – भिन्न हो चुकी थी वारेन हॉस्टिंग ने संतोषजनक कर व्यवस्था स्थापित करने के लिए trial & error का नियम अपनाया 1772 ई॰ में वारेन हेस्टिंग्ज ने कर संग्रहण के अधिकार उँची बोली वाले को पाँच वर्ष के लिए निलाम कर दिए गए। वर्ष 1773 में कर संग्रह की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किए उसने भ्रष्ट तथा निजि व्यापार में लगे कलक्टरों को हटा दिया तथा उनके स्थान पर जिलों में भारतीय दीवान नियुक्त कर दिए उनके निरीक्षण के लिए 6 प्रांतीय परिषद नियुक्त की गई जो कलकत्ता स्थित राजस्व समिति के अधीन होती थी। यह व्यवस्था पाँच वर्ष के लिए की गई थी जो असफल रही।

वर्ष 1776 ई॰ मे इस पंचवर्षीय व्यवस्था को समाप्त करके एकवर्षीय प्रणाली को अपनाया गया और संग्रहण के अधिकतक नीलाम कर दिए गए। 1781 ई॰ मे इस व्यवस्था में पुनः सुधार कर प्रांतीय परिषदों को समस्त कर दिया गया। कानुनगों की नियुक्ति पुनः कर दी गई। तथा निरीक्षण का सर्वोपरि अधिकार कोलकत्ता स्थित राजस्व समिति को दिया। वारेन हेस्टिग्स की यह व्यवस्था असफल रही।

1919 ई॰ का पेरिस शांति समझौता :–

प्रथम विश्वयुद्व में मित्रराष्ट्रो ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका इत्यादि ने धुरी – राष्ट्रो जर्मनी और उसके सहयोगी राष्ट्रो, अर्थात आस्ट्रिया , हंगरी बुल्गेरिया और तुर्की को पराजित किया था विजयी राष्ट्रो ने युद्वोतर काल की समस्याओं को सुलझाने के लिए पेरिस में 1919 ई॰ में एक शांति सम्मेलन का आयोजन किया इस सम्मेलन में सभी विजयी राष्ट्रो के प्रतिनिधि शामिल हुए।

सम्मेलन में पराजित राज्यों से समझौता करने के लिए पाँच संधियों का प्रारूप तैयार किया जिसके परिणामस्वरूप यूरोप का मानचित्र बदल गया और अनेक भावी समस्याओं का जन्म हुआ वास्तव में प्रथम विश्वयुद्व के अपार धन – जन की क्षति तो हुई थी युद्व के दौरान ही कई नई घटनाएँ भी घटी युद्व के दौरान कई नई घटनाए घटी थी जिनका प्रभाव इतिहास पर पड़ा तथा पेरिस – शांति समझौते पर भी पड़ा। युद्व के दौरान जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस और तुर्की साम्राज्यों का अंत राष्ट्रीयता के सिद्वांत के आधार पर राजनितिक सीमाओं का संशोधन हो सके वैसे पेरिस शांति समझौता के दौरान कई महत्वपूर्ण तथ्यों का सामना करना पड़ा।

क. पेरिस शांति सम्मेलन के नेतागण

ख. शांति – सम्मेलन की समस्याएं

ग. पेरिस शांति सम्मेलन के मूल आधार :– युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्रो ने ऊपरी तौर पर कई सिद्वांतों की घोषणा की थी और विश्व के समझ प्रकट रूप से कई वादे किए थे लेकिन, समय – समय पर आदर्शवादी सिद्वांत बाहय तौर पर पेरिस शांति सम्मेलन कामयाब रहा अतः विल्सन ने 14 – सूत्री सिद्वांत का भी माँग किया था।

शांति–सम्मेलन की समस्याएँ :–

1 पेरिस शांति सम्मेलन कटुता से कभी उभर नही पाया। यदि फ्रांस और इंग्लैण्ड प्रतिशोधात्मक नीति अरित्यार कर अधिक से अधिक धन चाहते थे । तो दूसरी तरफ राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवाद और नैतिकवाद की दूहाई देकर पराजितों को अत्याचार से बचाना चाहते थे।

2 शांति सम्मेलन की दूसरी कठिनाए युद्व के दौरान की गई गुप्त संधियाँ के आधार पर मित्रराष्ट्रो ने इटली, जापान, रूमानिया इत्यादि देशो को तरह – तरह के आश्वासन दिए मित्रराष्ट्रो के बीच भी कई कई संधियाँ हुई थी सारी संधियो में शामिल हुए।

3 पेरिस शांति सम्मेलन की तीसरी मध्य एवं पूर्वी यूरोप के युद्ध के कारण खाद्य समस्या का समाधान ढूँढना इसके अलावा यूरोप के छोटे – छोटे राज्यों के आपस के झगड़ो को निपटाना भी एक कठिन समस्या थी।

4 सम्मेलन में महत्वपूर्ण विषयो पर निर्णय गुप्त रूप मे लिया जाए या खुले तौर पर यह एक बड़ी समस्या के रूप में आई असल में विल्सन खुले रूप से निर्णय लेने के पक्ष मे न था लेकिन फ्रांस ओर इंग्लैण्ड इसके विपरित गुप्त रूप से निर्णय पक्षधर में थे क्षेत्रीय व्यवस्था के सबंध में खुले निर्णय लेने उतेजना फैलने की आशंका थी।

ग्रामीण विकास

भारत ग्राम–प्रधान देश है और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के बिना राष्ट्रीय विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भी हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नेताओं की यही मान्यता थी। वास्तव में स्वतन्त्रता संग्राम का एक आधार यह भी था कि ब्रिटिश राज के दौरान ग्रामीण भारत की अनदेखी की जा रही थी। महात्मा गाँधी ने तो 'ग्राम–स्वराज' को ही स्वतन्त्र भारत के आर्थिक विकास के केन्द्र–बिन्दु के रूप में देखा।

आज देश को स्वतन्त्र हुए पचास वर्ष हो चुके हैं और महात्मा गाँधी का ग्रामीण विकास का आह्वान आज भी बरकरार है। तेजी से हो रहे शहरीकरण के बावजूद हमारी जनसंख्या का बड़ा हिस्सा आज भी गाँवों में रह रहा है। प्रतिशत के हिसाब से हो सकता है ग्रामीण जनसंख्या में कुछ कमी आई हो लेकिन आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए ग्रामीणों की कुल संख्या अब भी काफी है।

ऐसा नहीं है कि विकास कार्यक्रमों में कोई प्रगति नहीं हुई है लेकिन उनकी गति और उपलब्धियाँ वाँछित स्तर की नहीं है। ग्रामीण विकास को हमेशा कृषि विकास के साथ जोड़ा गया और यह मान लिया गया कि कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि आ जाएगी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के एक दशक बाद वैचारिक परिवर्तन हुआ। 'अधिक अन्न उपजाओ' जाँच समिति ने केवल कृषि या कृषि से जुड़ी अन्य गतिविधियों जैसे पशुपालन आदि को ही नहीं अपितु इसके साथ–साथ ग्रामीणों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक–आर्थिक जरूरतों के समन्वित कार्यक्रम को भी बढ़ावा दिया।

सामुदायिक विकास

सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय विस्तार योजना इसी सिफारिश के तहत शुरू किए गए। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 100 से 120 गाँवों का एक ब्लॉक योजना और समन्वित ग्राम विकास की मूल इकाई बना दिया गया। इसमें कृषि और इससे जुड़ी अन्य गतिविधियाँ, शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज–कल्याण, संचार, अनुपूरक रोजगार आदि भी शामिल किए गए और स्वावलम्बन तथा आम आदमी की भागीदारी पर विशेष बल दिया गया। यह कार्यक्रम लागू करने की जिम्मेदारी ब्लॉक विकास अधिकारी की है। उसकी मदद के लिए अलग–अलग विभागों के तकनीकी अधिकारी और ग्राम सेवक–सेविकाएँ होते हैं। इस कार्यक्रम के तहत राज्य और जिला स्तर पर भी संगठन बनाए गए।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य था ग्रामीण क्षेत्रों के संसाधनों और मानव संसाधनों का भरपूर विकास करना तथा स्थानीय नेतृत्व और स्वशासित संस्थान विकसित करना ताकि ग्रामीण लोग अपने बलबूते पर अपना जीवन–स्तर ऊँचा कर सकें। इस कार्यक्रम

की शुरुआत अच्छी रही। इसके परिणामस्वरूप देश के सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र के लिए एक व्यावहारिक ढाँचागत बुनियाद तैयार हो गई। जैसा कि अन्य कार्यक्रमों के साथ भी होता है, इस कार्यक्रम की सफलता का पैमाना हर राज्य में अलग–अलग रहा। इस कार्यक्रम की शुरुआत के सत्रह बरस बाद 1969 में केन्द्र सरकार ने इस कार्यक्रम की जिम्मेदारी राज्यों को सौंपने का फैसला किया और इसी के साथ शुरू हुआ इसका पतन और धीरे–धीरे मौत।

इसके लिए जिम्मेदार तथ्यों में एक यह भी था कि ग्रामीण विकास के समन्वित कार्यों में धीरे–धीरे ढिलाई आती गई। ग्रामीण उद्योगों से जुड़े सभी कार्य खादी और ग्रामोद्योग आयोग (के.वी.आई.सी.) को दे दिए गए और खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की बढ़ती जरूरत को देखते हुए सारा ध्यान कृषि– उत्पादन बढ़ाने पर ही लगा दिया गया और अन्य गतिविधियों की अनदेखी हुई। परिणामस्वरूप 1960 में कुछ चुने हुए जिलों में सघन कृषि विकास कार्यक्रम (आई.ए.डी.पी.) शुरू किया गया और इसके बाद 1965 में सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (आई.ए.ए.पी.) और अधिक उपज किस्म कार्यक्रम (एच.वाई.वी.पी.) शुरू किया गया।

जैसा कि 1985 में जी.वी.के. राव समिति की रिपोर्ट में भी कहा गया, इन नए कार्यक्रमों की वजह से सामुदायिक विकास कार्यक्रम की पकड़ ढीली पड़ती गई और बजट में कमी आने के साथ–साथ यह पूरी तरह छिन्न–भिन्न होने लगा। दूसरे, हरित–क्रान्ति का सबसे ज्यादा फायदा बड़े किसानों और उन क्षेत्रों को हुआ जिन्हें उपज बढ़ाने वाली किस्मों की तकनीक उपलब्ध हो सकी। ग्रामीण जनसंख्या का बड़ा हिस्सा जो गरीब था, उसे इसका लाभ नहीं मिल सका और ग्रामीण विकास का मूल उद्देश्य अधूरा ही रह गया।

नई योजनाएँ

1970 के दशक के शुरू में सरकार के स्तर पर यह महसूस कर लिया गया था कि ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य केवल कृषि उत्पादन बढ़ाना नहीं होना चाहिए बल्कि ग्रामीण लोगों की अन्य सामाजिक– आर्थिक जरूरतों पर ध्यान देना भी जरूरी है लेकिन सामुदायिक विकास कार्यक्रम फिर से शुरू करने के बजाय नई योजनाएँ शुरू कर दी गई। इनमें यूनिसेफ की मदद से 'व्यावहारिक पोषण कार्यक्रम' शुरू किया गया जिसका उद्देश्य कुछ चुने हुए विकास खंडों में ग्रामीणों के पोषण–स्तर को सुधारना और स्वास्थ्य–सम्बन्धी देखभाल, टीकाकरण, पेयजल और स्वच्छ पर्यावरण सुनिश्चित करना था। इसके अलावा ग्रामीण रोजगार क्रैश योजना (सी.एस.आर.ई.), पायलट सघन ग्रामीण रोजगार योजना (पी.आई.आर.ई.पी.) और 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम शुरू किए गए जिनका उद्देश्य रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना था। सूखे की आशंका वाले क्षेत्रों का विकास कार्यक्रम (डी.पी.ए.पी.) और रेगिस्तान विकास कार्यक्रम (डी.डी.पी.) भी शुरू किए गए जिनका उद्देश्य पारिस्थितिकी असन्तुलन दूर करना था।

इनके अलावा जनजातीय क्षेत्रों और पहाड़ी इलाकों के लिए विशेष कार्यक्रम बनाए गए। यही नहीं, राष्ट्रीय कृषि आयोग की सिफारिश पर कुछ राज्यों में 'सम्पूर्ण ग्रामविकास योजना' शुरू की गई। इसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण विकास कार्यक्रम के जरिए आय सम्बन्धी असमानता दूर करने का सामाजिक उद्देश्य हासिल करना और ग्रामीण समुदायों में रोजगार के अवसर बढ़ाना था। इस प्रकार 1952 में शुरू हुए सामुदायिक विकास कार्यक्रम और 1975 में शुरू हुए सम्पूर्ण ग्राम विकास कार्यक्रम के बाद एक बार फिर यह महसूस किया गया कि ग्रामीण विकास का वांछित लक्ष्य एक समन्वित कार्यक्रम के जरिए ही हासिल किया जा सकता है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.)

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के बारे में यह दावा किया गया कि यह एक नया कार्यक्रम है लेकिन ग्रामीण विकास से जुड़े लोगों ने महसूस किया कि धारणा की दृष्टि से यह 1950 के दशक में शुरू किए गए सामुदायिक विकास कार्यक्रम से भिन्न नहीं था। लेकिन समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू होने पर पहले से चल रही योजनाएँ बंद नहीं की गई। ये सभी जारी रहीं और कुछ अन्य भी इनसे जुड़ गईं। 'काम के बदले भोजन' कार्यक्रम पुनः परिभाषित किया गया और इसे राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना (एन.आर.ई.पी.) और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम के तहत पुनर्गठित करके शुरू किया गया। इसका उद्देश्य प्रत्येक ग्रामीण भूमिहीन परिवार के एक सदस्य को कम से कम सौ दिन का रोजगार उपलब्ध कराना तथा 'ट्राइसेम' के तहत ग्रामीण युवाओं को उत्पाद–कुशलता सिखाना था।

साथ ही ग्रामीण विकास का कार्य कृषि मन्त्रालय से हटा लिया गया और 1979 में ग्रामीण पुनर्निर्माण नाम का अलग मन्त्रालय बनाया गया। इस तरह तत्कालीन सरकार की ग्रामीण क्षेत्र के विकास की प्राथमिकताएँ सामने आईं। मन्त्रालय को नया रूप देने और उसके कार्यों को व्यापक आधार प्रदान करने से एक बार फिर यह तथ्य सामने आया कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष सुधार सुनिश्चित करने के लिए विशुद्ध कृषि–उन्मुख नीति पर्याप्त नहीं है।

राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद द्वारा 1975–76 में विभिन्न परिवारों की आय के बारे में किए गए अध्ययन से उपरोक्त विचार को और बल मिला। इस अध्ययन में बताया गया था कि हरित क्रांति के बावजूद ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्र की तुलना में निर्धन ही बना रहा। इस अध्ययन से यह बात भ्रामक साबित हुई कि हरित क्रांति से ग्रामीण क्षेत्रों में अमीरी आई क्योंकि मात्र 4.95 प्रतिशत ग्रामीण परिवार ऐसे थे जिनकी वार्षिक आय 10,000 रुपये या इससे अधिक थी और मात्र 0.2 प्रतिशत परिवारों की आय 30,000 रुपये या इससे अधिक थी जबकि शहरी क्षेत्रों में 17.6 प्रतिशत परिवारों की वार्षिक आय 10,000 रुपये या इससे अधिक और 1.5 प्रतिशत परिवारों की वार्षिक आय 30,000 रुपये या इससे अधिक थी।

इस पृष्ठभूमि के साथ नए मन्त्रालय ने अपनी गतिविधियों के विस्तार की मांग करते हुए ग्रामीण उद्योगों, ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण सड़क, ग्रामीण ऋण आदि को भी अपने कार्यक्षेत्र में शामिल कराने का प्रयास किया किन्तु अंततः उसे ग्रामीण जलापूर्ति, ग्रामीण सड़कों, ग्राम और कुटीर उद्योगों और ग्रामीण क्षेत्र से सम्बद्ध कस्बों तथा गाँवों की आयोजना का ही दायित्व दिया गया। ग्रामीण स्वास्थ्य, ग्रामीण विद्युतीकरण आदि के सन्दर्भ में मन्त्रालय को आंशिक दायित्व सौंपा गया।

छह वर्ष बाद 1985 में ग्रामीण विकास और गरीबी उन्मुलन सम्बन्धी प्रशासनिक प्रबंधों की समीक्षा के लिए जी.वी.के. राव समिति की स्थापना की गई। समिति ने पाया कि जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों के गठन और एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के तहत विकासखंडों को मजबूत बनाने से अपेक्षित एकीकरण नहीं हो सका, यानि जिला या खंड स्तर पर पूरी तरह समन्वय स्थापित नहीं हुआ और अनेक उदाहरण ऐसे मिले जहाँ अलग–अलग एजेंसियों द्वारा समान लक्ष्य–समूह अथवा समान भौगोलिक क्षेत्र के लिए योजनाओं की शृंखला तैयार की गई और उन्हें लागू किया गया तथा ऐसा करते समय उनमें किसी तरह का समन्वय नहीं रखा गया। कई एशियाई देश ऐसे हैं जिनमें भारत के मुकाबले विकास की क्षमता और वैज्ञानिक विशेषज्ञता कम रही है और वे सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी कम सुधारवादी रहे हैं किन्तु उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों से भूख और गरीबी को बड़े पैमाने पर समाप्त कर दिया है, जबकि भारत के अधिकतर हिस्सों में ये चिरकालिक समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा है लोगों में उनके कल्याण के लिए चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों के बारे में जागरुकता पैदा करना। इस दिशा में स्वयंसेवी एजेंसियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। गैर–सरकारी संगठनों की सक्रिय भागीदारी से ग्रामीण विकास में सफलता की कई मिसालें कायम हुई हैं। इन सफलताओं को कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित न रखकर उनका व्यापक विस्तार किए जाने की आवश्यकता है।

विशेषज्ञों ने इसके कई कारण बताए हैं। इनमें से एक कारण यह है कि सामुदायिक विकास की अवधारणा कई कार्यक्रमों में विखंडित रही है जो एकीकृत ग्रामीण विकास के दायरे में स्वतः उपयुक्त नहीं हैं। इसका एक और कारण यह रहा कि कई राज्यों में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम लागू करने के लिए सुदृढ़ प्रशासनिक तंत्र का अभाव रहा। यह भी महसूस किया गया कि गाँव के गरीबों को परिसम्पत्तियाँ देने भर से ग्रामीण निर्धनता को समाप्त नहीं किया जा सकता। एक अन्य विचार यह भी व्यक्त किया गया कि आयोजना की कमजोरी एक गम्भीर खामी रही।

सातवीं पचवर्षीय योजना के दस्तावेज में कार्यक्रमों की अधिकता और संगठनात्मक संरचनाओं की विविधता का विशेष रूप से उल्लेख किया गया और समूचे ढाँचे की समीक्षा करने की आवश्यकता पर बल दिया गया ताकि योजनाओं को सरल एवं युक्तिसंगत बनाया जा सके,

उनमें आवृत्ति कम की जा सके तथा स्थानीय स्तर पर समानान्तर समन्वय सुनिश्चित किया जा सके।

नए सिरे से विचार की आवश्यकता

जी.वी.के. राव समिति ने यह भी सुझाव दिया कि ग्रामीण विकास के समूचे परिदृश्य पर नए सिरे से विचार किया जाए और इसमें विभिन्न एजेंसियों द्वारा क्षेत्र स्तर पर चलाई जा रही सभी प्रकार की आर्थिक और सामाजिक विकास सम्बन्धी गतिविधियों को शामिल किया जाए। समिति के विचार में सरकारी तंत्र अकेले सफलता हासिल नहीं कर सकता, अतः स्थानीय प्रयासों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इस संदर्भ में समिति ने पंचायती राज संस्थानों को सक्रिय बनाने की सिफारिश की और सुझाव दिया कि नीति–निर्धारण एवं कार्यक्रम कार्यान्वयन के लिए जिले को मूलभूत इकाई समझा जाए। समिति ने ग्रामीण विकास की देखरेख के लिए राज्य स्तर पर मुख्य सचिव के समकक्ष एक वरिष्ठ अधिकारी की विकास आयुक्त के रूप में नियुक्ति का सुझाव दिया तथा जिला बजट एवं जिला योजना की अवधारणा प्रस्तुत की। इस समिति की रिपोर्ट पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया।

किन्तु ग्रामीण विकास कार्यक्रमों की आयोजना और उनके कार्यान्वयन में समुदाय की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए पंचायती राज संस्थानों को मजबूत बनाने की दिशा में किए गए ठोस उपाय अंतिम दशक के प्रारम्भ में सामने आए। संविधान में संशोधन के जरिए पंचायतों के नियमित चुनाव कराने, उन्हें धन उपलब्ध कराने और उनमें महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ाने के उपाय किये गये। साथ ही जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों के माध्यम से लागू कराने के लिए पंचायती राज संस्थानों को विकास गतिविधियों की व्यापक सूची सौंपी गई।

इन सभी प्रयासों के लिए अधिक धन दिया गया और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने की दिशा में इनका अनुकूल असर पड़ा। ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क, दूरसंचार, बिजली आदि मूलभूत सुविधाओं की स्थिति में सुधार आया और साथ ही पेयजल आपूर्ति तथा सफाई सुविधाओं में बढ़ोत्तरी हुई। किन्तु सभी राज्यों में समान उपलब्धियाँ हासिल नहीं हुई। आर्थिक उदारीकरण की नई नीति के सन्दर्भ में हुए संरचनागत समायोजन से यह भ्रांति पैदा हुई कि सामाजिक क्षेत्र में राज्य की भूमिका कम हो जाएगी। भारत सरकार ने शीघ्र ही इस आशंका का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास के प्रति अपनी वचनबद्धता दोहराई और इसके लिए धन आवंटन में बढ़ोत्तरी की।

ग्रामीण पुनर्निर्माण मन्त्रालय का नाम बदलकर 'ग्रामीण क्षेत्र और रोजगार मन्त्रालय' कर दिया गया और इसके तहत तीन विभाग रखे गए। ये थेरू ग्रामीण रोजगार और गरीबी उन्मूलन

विभाग, ग्रामीण विकास विभाग और बंजर भूमि विकास विभाग। इनमें से पहले विभाग को अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से दिहाड़ी रोजगार में वृद्धि, बुनियादी ढाँचे के विकास, स्वरोजगार और उद्यमशीलता–विकास का दायित्व सौंपा गया। साथ ही सूखे की आशंका वाले क्षेत्रों के लिए विशेष कार्यक्रम और मरुभूमि विकास कार्यक्रम लागू करने की जिम्मेदारी भी इसी विभाग को सौंपी गई।

ग्रामीण विकास विभाग को राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम लागू करने की जिम्मेदारी सौंपी गई जिसके तहत राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेन्शन योजना, राष्ट्रीय परिवार लाभ योजना और राष्ट्रीय प्रसूति लाभ, ग्रामीण जलापूर्ति और सफाई योजना, भूमि सुधार, पंचायती राज, कृषि विपणन, ग्रामीण प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन देना जैसे कार्यक्रम शामिल हैं। तीसरे विभाग को बंजर भूमि विकास को बढ़ावा देने का दायित्व सौंपा गया।

उपरोक्त बातों का ध्यान रखकर मन्त्रालय का पुनर्गठन किए जाने से इस विश्वास को बल मिला कि ग्रामीण विकास को सर्वव्यापक बनाने के लिए दृष्टिकोण सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए, न कि मात्र कृषि–उन्मुख। निश्चय ही बड़ी संख्या में योजनाएँ होनी चाहिए किन्तु उपलब्ध मानवीय एवं वित्तीय संसाधनों का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित करने के लिए कार्यक्रमों का लाभ निचले स्तर तक पहुँचना आवश्यक है।

एक उपयोगी कार्यशाला

विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की गहराई से समीक्षा के लिए अगस्त 1996 में परियोजना निदेशकों की एक कार्यशाला आयोजित की गई जिसमें कार्यान्वयन की शृंखला के कमजोर सम्पर्कों को उजागर किया गया। ग्रामीण क्षेत्र और रोजगार मन्त्री श्री के. येरन्नायडु के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में विकास की गति को तेज करने के लिए अधिक धन आवंटित करना ही पर्याप्त नहीं है। बेहतर नतीजे हासिल करने के लिए कुछ मूलभूत संरचनात्मक परिवर्तनों की भी आवश्यकता है। समूचे कार्यक्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जरूरतमंद व्यक्ति की सही पहचान करना है। हालाँकि चयन प्रक्रिया ग्राम–सभा को सौंपी गई है, फिर भी अक्सर यह पाया गया है कि लाभार्थियों की सूची में कुछ अवांछित नाम शामिल हो जाते हैं। स्थानीय अधिकारियों से कहा गया है कि वे सतर्क रहें और किसी प्रकार के दबाव के सामने न झुकें।

दूसरे यह महसूस किया गया कि यथासम्भव योजना का चयन लाभार्थी की मर्जी पर छोड़ दिया जाना चाहिए। योजना को मंजूरी देने से पहले बाजार से सम्पर्क जोड़ने पर विचार करना चाहिए तथा योजना मंजूरी और उसके कार्यान्वयन के बीच की अवधि कम से कम

होनी चाहिए। बैंकरों के साथ प्रत्येक स्तर पर अधिक समन्वय रखने की आवश्यकता महसूस की गई है।

कार्यशाला से एक और तथ्य यह उजागर हुआ कि लोगों की भागीदारी अपेक्षित स्तर की नहीं रही है और 'ट्राइसेम' तथा अन्य कार्यक्रमों के बीच सम्पर्क मजबूत बनाने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लाभार्थियों में से मात्र 3.8 प्रतिशत को ट्राइसेम प्रशिक्षण दिया गया और उनमें से केवल 47.2 प्रतिशत सफल रहे। इसका मतलब यह हुआ कि एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के संदर्भ में ट्राइसेम का योगदान मात्र दो प्रतिशत रहा। गरीबों को विभिन्न व्यवसायों का प्रशिक्षण देने के लिए प्रत्येक खंड में मिनी–औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान खोलने का प्रस्ताव स्वागत योग्य कदम है।

कार्यशाला के दौरान खंड स्तर और ग्राम स्तर पर प्रशासनिक तंत्र की खामियों को सामने लाया गया। अधिकतर राज्यों में यह पाया गया कि पंचायती राज संस्थानों के द्वितीय स्तर, यानि खंड स्तर के संस्थान भली–भाँति काम नहीं कर रहे हैं। यहाँ तक कि सभी राज्यों में जिला पंचायतें भी पूरी तरह सक्रिय नहीं हैं। यह महसूस किया गया कि अधिकतर विभागों के स्वयं के ग्राम–स्तरीय कार्यकर्ता हैं। अतः उन सभी को एक समान संवर्ग में रखकर पंचायती राज संस्थानों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाए।

इन सभी कार्यक्रमों का अंतिम उद्देश्य गरीबी दूर करना है जिसका मूल्यांकन गरीबी की रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रहे लोगों की संख्या के अनुसार किया जाता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के 1987–88 के पंचवर्षीय उपभोक्ता खर्च सर्वेक्षण के अनुसार 20 करोड़ 14 लाख लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रहे थे जो कुल आबादी का 25.49 प्रतिशत था। इनमें से 16 करोड़ 82 लाख लोग ग्रामीण क्षेत्रों में थे, जो कुल ग्रामीण आबादी का 28.37 प्रतिशत था। गरीबी की रेखा से नीचे उन लोगों को समझा जाता है जिनकी वार्षिक आय 11,000 रुपये से कम होती है। मुद्रास्फीति में बढ़ोतरी को देखते हुए आय की इस सीमा में संशोधन की मांग भी की जा रही है। अगर ऐसा किया गया तो गरीबी की रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या और भी अधिक होगी।

वास्तव में विभिन्न एजेंसियों द्वारा गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे लोगों की संख्या के बारे में अलग–अलग अनुमान व्यक्त किए गए हैं। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि नौवीं पंचवर्षीय योजना शुरू करने से पहले गरीबी की रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रहे लोगों के बारे में नया सर्वेक्षण कराया जाए। परियोजना निदेशकों की कार्यशाला में भी यही सुझाव दिया गया। इससे गरीबी की समस्या की सही तस्वीर सामने आ सकेगी और विभिन्न गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की व्यावहारिक नया रूप देने में मदद मिलेगी।

इस बात का विशेष महत्व है क्योंकि नौवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लिए आठवीं योजना के मुकाबले दुगुना धन खर्च करने का प्रस्ताव किया गया है। आठवीं योजना में इसके लिए 30,000 करोड़ रुपये आवंटित किये गए थे, जिसे नौवीं योजना में 60,000 करोड़ रुपये करने का प्रस्ताव है। वर्तमान सरकार ने सन 2005 तक गरीबी समाप्त करने का संकल्प व्यक्त किया है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों को नया रूप देना होगा। इस संदर्भ में प्रशासनिक तंत्र को पुनर्गठित करने की आवश्यकता की अनदेखी नहीं की जा सकती और इसके लिए जी.वी.के. राव समिति की सिफारिशों पर विचार किया जाना चाहिए। समिति ने अन्य बातों के अलावा जिला विकास आयुक्त का पद बनाने का सुझाव दिया है जिसका दर्जा जिला कलेक्टर से बड़ा होगा। समिति ने राज्य स्तर पर मुख्य सचिव के समकक्ष एक विकास आयुक्त की नियुक्ति का सुझाव भी दिया है जिसके नीचे ग्रामीण विकास से सम्बद्ध सभी विभागों को रखा जा सके।

सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा है लोगों में उनके कल्याण के लिए चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों के बारे में जागरुकता पैदा करना। इस दिशा में स्वयंसेवी एजेंसियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। गैर–सरकारी संगठनों की सक्रिय भागीदारी से ग्रामीण विकास में सफलता की कई मिसालें कायम हुई हैं। इन सफलताओं को कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित न रखकर उनका व्यापक विस्तार किए जाने की आवश्यकता है।

****